ISSN 0974-8857

TULSĪ PRAJÑĀ

(A UGC-CARE Listed Quarterly Research Journal of JVBI)

Year : 47 • Vol. 185-186 • Issue : Jan-June, 2020

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE
A University dedicated to Oriental Studies & Human Values
Ladnun - 341 306, Rajasthan, India

ISSN 0974-8857

Tulsī Prajñā

(A UGC-CARE Listed Quarterly Research Journal of JVBI)

Year : 47 **Vol. 185-186** **Issue : Jan-June, 2020**

Patron
Prof. Bachhraj Dugar
(Vice-Chancellor)

Editor
Dr. Samani Bhaskar Pragya
Dr. Samani Amal Pragya
Dr. Samani Samyaktva Pragya

Managing Editor
Mohan Siyol

Publisher
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun 341306 (Raj.) India

Contact us: **tulsiprajnarj@gmail.com**
+91-9887111345

Tulsī Prajñā
(A UGC-CARE Listed Quarterly Research Journal of JVBI)

CONTENTS

Āgama 01
Ācārya Mahāprajña

Articles
Scope and Significance of *Swadeśī* in the Days of Globalization: A Gandhian Perspective 10
Prof. Manohar Lal Sharma

Idea of Consciousness in the light of Jain and Western Philosophy 22
Prof. Narayan Lal Kachhara

Indeclinables in *Sāṃkhyayoga* of *Śrīmad Bhagavad Gītā*: An Analytical Study 33
Dr. Pritilaxmi Swain

Values and Identity in the 17th Century Historical Narrative "*Khemā Haḍāliyā no Rāsa*" 45
Mana Shah

Upaniṣadic Thoughts on *Ānanda* 55
Lokesh Choudhary
Dr. Upendra Babu Khatri

प्रवर्तमान वैश्विक विमर्श एवं गांधी वैचारिकी 60
प्रो. प्रेम आनंद मिश्र

जैनपरम्परा में वर्णित अध्यापन-पद्धति का वैशिष्ट्य 71
डॉ. सुमत कुमार जैन

जैनपरम्परा में वर्णित अध्यापन-पद्धति का वैशिष्ट्य

Tulsī Prajñā
47 (185-186)
Jan-June, 2020
ISSN : 0974-8857

डॉ. सुमत कुमार जैन*

सारांशिका

जैन परम्परा में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का समग्र विकास है। इसकी विवेचना हम 'णाणं पयासयं' उक्ति की माध्यम से भलिभांति जान सकते हैं। प्रारम्भ में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी, इसीलिए प्रारम्भिक साहित्य सूत्र-रूप में मिलता है। तदनन्तर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन गेय, कथाप्रसंग, दृष्टान्त, लोकभाषा आदि माध्यमों से किया गया। इन्हीं पद्धतियों का विभिन्न रूपों में विकास हुआ। अनन्तर सूत्रों की व्याख्या की गयी हैं, जिन्हें जैन परम्परा में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वार्तिक आदि विविध व्याख्या-पद्धतियों के नाम से जाना गया है। शिक्षण विधियों का प्रयोग जैन वाङ्मय में तत्त्वों का बोध या ज्ञान के लिए किया गया है। जैन परम्परा के ग्रन्थों से अवगत होता है कि छात्र और अध्यापक का सम्बन्ध बहुत ही मधुर और प्रेमपूर्ण होता था। गुरु शिष्यों के कल्याण का ध्यान रखते थे। छात्र अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। जैन शिक्षा के विविध विषय प्रतिपादित थे। जैन वाङ्मय में उल्लिखित शिक्षा को मुख्यतया पाँच वर्गों में रखा जा सकता है – (क) सामान्य जन-शिक्षा (ख) विशिष्ट जन-शिक्षा (ग) श्रावक-शिक्षा (घ) मुनि-शिक्षा और (ङ) नारी शिक्षा इत्यादि। विभिन्न प्रकार की शिक्षण-विधिया तात्कालीन समय में प्रचलित थी। प्रस्तुत आलेख के माध्यम से जैन वाङ्मय में प्रतिपादित अध्यापन पद्धति को विस्तृत रूप से उजागर किया गया है।

मुख्य शब्द

उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिक, आदिपुराण, शिक्षण ।

* **डॉ. सुमत कुमार जैन**, सहायक आचार्य, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर।

प्रस्तावना

भारतीय शिक्षा के इतिहास पर दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में एक ओर वैदिक-शिक्षापद्धति विकसित हुई, वहीं दूसरी ओर जैन श्रमण-शिक्षापद्धति। वैदिक शिक्षा के अधिष्ठाता जहाँ ऋषि थे, वहीं जैन श्रमण शिक्षापद्धति में 'मुनि'। वैदिकेतर श्रमण शिक्षापद्धति में बौद्धधर्म के उदय के बाद बड़ा परिवर्तन आया और यह दो धाराओं में विभक्त हो गयी – 1.बौद्ध और 2.जैन।

जैनमुनि वैदिक-ऋषियों की भाँति आश्रमवासी नहीं थे, क्योंकि जैन साध्वाचार-नियम के अन्तर्गत स्पष्ट कहा गया है कि जैनसाधु एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहते हैं, प्रत्युत विभिन्न नगर, ग्रामों में पदयात्रा करता हुए तत्त्वोपदेश देते हैं तथा अपनी साधना करते हैं, मात्र वर्षाकाल के चार माह एक जगह स्थिर होकर रहते हैं। अतः श्रमणपरम्परा में आवासीय गुरुकुलों का विकास प्रारम्भ में दृष्टिगत नहीं होता। भगवान् महावीर(600ई.पूर्व) के समय से आगम युग(पाँचवीं ईसवीं) तक जैनपरम्परा में शिक्षा-केन्द्रों की जानकारी प्राप्त नहीं होती है, उस समय जैन-श्रमण एक चलायमान शिक्षालय हुआ करते थे। आचरण के उक्त (जैनसाधु का एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहना) कठोर नियम के कारण जैनशिक्षा के वैसे केन्द्र नहीं बने, जिस प्रकार बौद्धों के महाविहार अथवा विश्वविद्यालय होते थे। जैन आगमिक व्याख्या-साहित्य[1] से ज्ञात होता है कि उस युग में कुछ केन्द्र ऐसे अवश्य थे, जहाँ जैन परम्परा के कतिपय मुनि विहार करते हुए बराबर विद्यमान रहते थे। ऐसे केन्द्रों में वाराणसी, पाटलिपुत्र, मथुरा, श्रावस्ती, वलभी, गिरनार, प्रतिष्ठान, श्रवणबेलगोला, खण्डगिरि, उदयगिरि, राजगृह, एलोरा आदि प्रमुख थे।[2] तदनन्तर जैन-परम्परा में राजधानियाँ, तीर्थक्षेत्र, गुहागृह, मन्दिर, निषधि, मठ, स्वाध्यायशाला, विद्यामंडप, शास्त्रभण्डार आदि संस्थाओं का विकास हुआ और ये जैनशिक्षा के केन्द्र बने। राजा एवं धनाढ्य-वर्ग के लोग इन विद्या-केन्द्रों के आश्रयदाता हुआ करते थे।[3] शिक्षा-केन्द्रों का विस्तार होने पर प्रत्येक मन्दिर के साथ शास्त्रभण्डार और स्वाध्यायशाला तथा गुरु के आवास के लिए कक्ष की व्यवस्था होने लगी। यह परम्परा आज भी प्राकृत-पाठशाला, जैन पाठशाला आदि नामों से प्रत्येक जैन मंदिर में प्राप्त होती है। इस प्रकार ये सभी तथ्य निश्चित ही शिक्षा के महत्त्व को इंगित करते हैं।

बहुआयामी जैन-वाङ्मय में प्रतिपादित सिद्धान्तों में 'शिक्षासिद्धान्त' भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसके अनुसार शिक्षा का विकास मानव-आवश्यकता के अनुरूप हुआ है। इसमें वर्णित है कि अत्यन्त प्राचीन काल में मानव की सभी आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों से पूरी हो जाया करती थीं। जैसे-जैसे कल्पवृक्ष समाप्त होते गये, आवश्यकताओं का क्षेत्र विस्तृत होता गया, वैसे-वैसे उनके समाधान के लिए तदनुकूल शिक्षा की आवश्यकता हुई। इस सम्बन्ध में आदिपुराण में विवेचित आदितीर्थंकर ऋषभदेव के जीवन-वृत्त से अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं।

जैन-शिक्षा का उद्देश्य

जैन परम्परा में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का समग्र विकास है अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता है। व्यक्तित्व के चरम विकास की स्थिति को 'मोक्ष' माना गया है। मोक्ष की अवस्था को प्राप्त व्यक्तित्व में दर्शन, ज्ञान, शक्ति और सुख पूर्ण रूप से विकास को प्राप्त हो जाते हैं एवं उनमें किसी भी प्रकार की कमी होने की सम्भावना नहीं रहती। मोक्ष के साथ ही साथ लौकिक-दृष्टि से भी शिक्षा का महत्त्व स्वीकार किया गया है। जैसे-जैसे मानव-आवश्यकताओं का विस्तार होता गया है, वैसे-वैसे जैनशिक्षा के स्वरूप में भी विस्तार दृष्टिगोचर होता है। महाकवि वादीभसिंह के अनुसार

'अनवद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयफलावहा'[4] अर्थात् निर्दोष, अच्छी तरह श्रमपूर्वक अभ्यस्त विद्या ही ऐहिक और पारलौकिक कार्यों को सफल करती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने शिक्षा का लक्ष्य आत्मस्वातन्त्र्य-लाभ माना है।[5] दसवेआलियं में शिक्षा का सम्यक् विवेचन करते हुए वर्णित है कि अध्ययन (शिक्षा) के द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, अध्येता दूसरों को स्थिर करता है और अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत समाधि में रत हो जाता है।[6]

जैनग्रन्थों में शिक्षारूप ज्ञान का उत्कृष्ट महत्त्व बताया गया है।[7] ज्ञान आत्मा का भाव है। ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। ज्ञान को मनुष्य जीवन का सार कहा गया है।[8] यह मानव को मृदु बनाता है।[9] ज्ञान संसार के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है।[10] ज्ञान का प्रकाश ही सच्चा प्रकाश है, क्योंकि ज्ञान के प्रकाश की कोई रुकावट नहीं है।[11] सूर्य थोड़े क्षेत्र को प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान पूरे संसार को प्रकाशित करता है। 'णाणं पयासयं' ज्ञान अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य को प्रकाशित करता है।[12] मन रूपी उन्मत्त हाथी को वश में करने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।[13] ज्ञान वर्तमान जन्म के साथ परजन्म में भी रहता है।[14] ज्ञान को दान के भेद के रूप स्वीकार किया गया है।[15] आचार्य वट्टकेर ने ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहा है कि जिससे तत्त्वों का बोध होता, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा शुद्ध होती है, उसे ही ज्ञान कहा है।[16] पहले ज्ञान होना चाहिए, फिर उसके अनुसार दया व आचरण होना चाहिए।[17] रयणसार में भी कहा है कि ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा का फल मोक्ष है, अतः सतत ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।[18] मूलाचार में उल्लिखित है कि-

णाणं सिक्खदि, णाणं गुणेदि, णाणं परस्स उवदिसदि।
णाणेण कुणदि णायं, णाणविणीदो हवदि एसो॥[19]

अर्थात् ज्ञान शिक्षित करता है, ज्ञान गुणी बनाता है, ज्ञान पर को उपदेश देता है, ज्ञान से न्याय किया जाता है और ज्ञान से ही विनयी होता है। पद्मनंदि-पंचविंशति[20] ग्रन्थ में कहा है कि जो जन उत्तम गुरु के द्वारा प्ररूपित शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं, उन्हें बुद्धिमान मनुष्य दोनों नेत्रों से युक्त होने पर भी अन्धा समझते हैं। जिनके अन्दर ज्ञान रूपी ज्योति जल जाती है, उनकी बुद्धि कभी मैली नहीं होती है।[21] दौलतरामजी ने भी कहा है कि ज्ञान के समान संसार में दूसरा कोई सुख का कारण नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान ही जन्म, जरा और मृत्यु रूपी रोग दूर करने के लिए अमृत के समान है।[22] ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[23] इस प्रकार जैनपरम्परा में ज्ञान की अद्वितीय महिमा बतायी गयी है।

जैनपरम्परा में ज्ञान पाँच प्रकार का बताया गया है:[24]– 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनःपर्ययज्ञान और 5. केवलज्ञान। केवलज्ञान को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। जिसके ज्ञान का सम्पूर्ण विकास हो जाता है, वह केवलज्ञानी व सर्वज्ञ कहा जाता है। सामान्य व्यक्ति का विकास मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से आरम्भ होता है। इन्द्रियों और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहा जाता है। जैनदृष्टि से मतिज्ञान के 336 भेद माने गये हैं। वर्तमान में मतिज्ञान को प्रतिभा और योग्यता कह सकते हैं। इसी के आधार पर मानव के आई-क्यू लेवल का पता चलता है और मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान का विकास होता है।

जैन शिक्षा के विषय

भारतीय परम्पराओं में शिक्षा के विषय प्रायः समान ही रहे हैं। सम्पूर्ण जीव और जगत के विषय में जानकारी देना सभी परम्पराओं का उद्देश्य रहा है। यद्यपि जैन-परम्परा में गुरु इहलौकिक और पारलौकिक जीवन के लिए प्रवृत्तिमूलक की अपेक्षा निवृत्तिमूलक-शिक्षा पर विशेष जोर देते रहे हैं, तथापि निवृत्तिमूलक

होने पर भी जैनशिक्षा के विषयों में जीव और जगत को केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण प्राणिमात्र तथा जगत के सभी विषयों को समाहित किया गया है। जैन वाङ्मय में उल्लिखित शिक्षा को मुख्यतया पाँच वर्गों में रखा जा सकता है – (क) सामान्य जन-शिक्षा (ख) विशिष्ट जन-शिक्षा (ग) श्रावक-शिक्षा (घ) मुनि-शिक्षा और (ङ) नारी शिक्षा इत्यादि। इन शिक्षाओं के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन हुआ है –

(क) सामान्य जन-शिक्षा – जैन साहित्य में पुरुषों के लिए बाहत्तर कलाओं एवं स्त्रियों की चौसठ कलाओं के उल्लेख दृष्टिगोचर होते है।[25] साथ ही ऐसा भी कहा है कि इन कलाओं के माध्यम से व्यक्ति इस लोक में संवर्धित हो सकता है। इसके अन्तर्गत उन विषयों को रखा जा सकता है, जिनका निरूपण सामान्य जन के लिए आजीविकोपार्जनार्थ हुआ है। राजा नाभि ने भूख के क्लेश से दु:खी अपनी प्रजा को मिट्टी से घड़ा बनाने, दाने फटकने, आग को धौंकने, भोजन बनाने के विधान, कपास से सूत खींचने और कपड़े बुनने के कर्म बताये।[26] इसी प्रकार पेट की ज्वाला से आक्रान्त अपनी जनता को प्रचुर ज्ञान से परिपूर्ण ऋषभ ने उनकी योग्यतानुसार खेती, पशुपालन, पट, घट, भोजन-भाजन, रंजन, घर बनाने की विधि, पीठ-शय्या, कवच, आभूषण, असि, मसि, शिल्प आदि कर्मों की शिक्षा प्रदान की।[27] ये सभी शिक्षाएँ आजीविका हेतु व्यक्ति की क्षमता के अनुरूप प्रदान की गयीं।

(ख) विशिष्ट जन-शिक्षा – इस शिक्षा को राज-पुरुष आदि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित रखा गया है। इसके अन्तर्गत स्याही से अक्षर लिखना, गणित, गांधर्व (संगीत), नाटक, रस, नर-नारियों के लक्षण (सामुद्रिक), भूषण-विधि, कामशास्त्र, स्त्रियों के चित्त हरण करने की कला, गंध-युक्ति, रत्न-परीक्षा, मंत्र-तंत्र, अश्व-शास्त्र, हस्तिशास्त्र, भाला-गदा-असि-संघात, चक्र-चाप-प्रहरण विज्ञान, देश और देश की भाषाएँ, लिपियाँ और उनके स्थान, वाक्यालंकार-विधान, ज्योतिष, छंद, तर्क, व्याकरण, आवर्त्तन-निवर्त्तन आदि कारणों (पेचों) से युक्त मलग्राह युद्ध, वैद्यक, निघंटु (कोश), औषधि-विस्तार, सर्वलोकोपचार, चित्र-कला, लेप-कला, शिल्प-कर्म, काष्ट-कर्म, अर्थशास्त्र, दण्डनीति, त्रयी विद्या (वर्ण, आश्रम और धर्म), राजनीति आदि विषयों एवं कलाओं को परिगणित किया गया है।[28] इसके अतिरिक्त शकुन-समूह (पक्षियों की आवाज द्वारा शुभाशुभ का परिज्ञान) तथा निमित्तशास्त्र के ज्ञान भी इसी शिक्षा के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।[29] सम्भवत: इसी को नृप-विद्या भी कहा गया है।[30] इन विषयों में से कुछ के विवरण सविस्तार महापुराण में उपलब्ध होते हैं।

(ग) श्रावक-शिक्षा – आदिपुराण (जिनसेन) में श्रावकों की क्रियाओं का विवेचन हुआ है, जिसमें विद्यारंभ के समय चार क्रियाएँ विधेय मानी गयीं हैं – 1. लिपि क्रिया, 2. उपनीति क्रिया, 3. व्रतचर्या क्रिया और 4. व्रतावरण क्रिया। लिपि क्रिया में पाँच वर्ष के बालक को सर्वप्रथम अक्षरों के दर्शन कराने के लिए लिपि-संख्यान नाम की क्रिया की विधि की जाती है।[31] जैन परम्परा के अनुसार उपनीति क्रिया बालक के जन्म से सात-आठ वर्ष बाद में सम्पन्न होती है।[32] इसमें केशों का मुण्डन तथा मुंज(यज्ञोपवीत) की बनी मेखला धारण कराना विधेय माना गया है। मेखला तीन लड़ों की होती है। मुंज-बन्धन (यज्ञोपवीत धारण करने) के बाद विकार रहित वस्त्र पहनने चाहिए। जबतक विद्या की समाप्ति न हो जाए तबतक के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करना आवश्यक है।[33] कुमारों को स्थूल हिंसा का भी त्याग करना आवश्यक है। प्रतिदिन शुद्ध जल से स्नान तथा स्नानोत्तर देव-दर्शन या पूजन करना भी कर्त्तव्य में परिगणित है। शय्या या पलंग पर सोने का त्याग कर भूमि पर शयन करने का विधान वर्णित है।[34] व्रतचर्या का अभिप्राय विद्याध्ययन के समय संयमित जीवनयापन करने से है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक प्राप्त कर कोई भी ऐसा

कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे विद्याध्ययन में बाधा हो। विद्यार्थी का एक ही लक्ष्य होना चाहिए – विद्याध्ययन। सादा जीवन और विनयशीलता उसके लिए अपरिहार्य है।[35] ब्रह्मचर्यपूर्वक उपनीति धारण करते समय जिस शारीरिक संस्कार एवं भड़कीले वस्त्राभूषणों का त्याग किया गया था, व्रतावरण क्रिया में गुरु की अनुमति से उन्हें धारण किया जाता है। जो विद्यार्थी शस्त्रोपजीवी है, वह शस्त्र ग्रहण करता है। वैश्य-छात्र व्यापार, कृषि एवं पशुपालन आदि कार्यों में प्रवृत्त होता है। विद्याध्ययन से प्रौढ़ता को प्राप्त विद्यार्थी-युवक गुरु या आचार्य के समक्ष पहुँच कर श्रावक के मूलगुण - मद्य-त्याग, मांस-त्याग, मधु-त्याग, पंच उदम्बर फलों का त्याग कर सदाचरण ग्रहण करता है तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील का त्याग कर और परिग्रह का परिमाण कर सदाचारमयी जीवन को अपनाता है। व्रतावरण क्रिया का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास करना है। जिनसेन ने इस क्रिया का वर्णन स्पष्ट रूप से किया है।[36] सागारधर्मामृत में भी सच्चे गुरु के उपदेश से सुश्रूषादि गुणों से प्राप्त होने वाले सम्यक्-दृष्टि भद्र को गृहस्थ धर्म धारण करने के पूर्व इसी तरह की शिक्षा का उल्लेख है।[37] पार्श्वनाथचरित में भी कुमार रश्मिवेग के शिक्षारम्भ और विद्यारम्भ क्रियायों का वर्णन हुआ है।

(घ) मुनि-शिक्षा – इस शिक्षा के अन्तर्गत उन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जो व्यक्तियों को संसार की नश्वरता का भान कराकर मोक्ष की ओर प्रेरित करते एवं उनके लिए व्रत आदि की व्याख्या करते हैं। महापुराण (पुष्पदन्त) में उसे ऋषि-विद्या कहा गया है।[38] इस शिक्षा का तीर्थंकर या उनके पटु शिष्यों द्वारा निष्पादन होता है। वे देश-देशान्तर में भ्रमण कर लोगों को अपने उपदेशों द्वारा जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की शिक्षा प्रदान करते हैं।

(ङ) नारी-शिक्षा – जैन संस्कृति नारी में चाहे उसका गृहस्थ-जीवन हो अथवा संन्यास-जीवन हो, आध्यात्मिक भावना की स्रोतस्विनी बहा कर उसे अपने जीवन के लिए अत्यन्त कर्त्तव्यशील और निष्ठावान बनाती है।[39] जैन वाङ्मय में निबद्ध आख्यानों से भी यह सिद्ध है कि पुरुषों के समान ही नारियों में शिक्षा का प्रचार था। आदिपुराण से स्पष्ट है कि ब्राह्मी और सुन्दरी का पद ज्ञान और व्याकरण श्लाघनीय था। उन्होंने आगम-ज्ञान, समस्त विद्याएँ और कलाएँ अपने पिता के अनुग्रह से प्राप्त की थीं। अपनी बुद्धि और श्रम के कारण वे साक्षात् सरस्वती के समान प्रतीत होती थीं।[40] शान्तिनाथचरित में वर्णित सत्य की पुत्री सत्यभामा भी विदुषी है।[41] दमितार अपनी पुत्री कनकश्री को नृत्य, संगीत की शिक्षा के लिए किराति एवं बाबरी के वेषधारी अनन्तवीर्य को सौंपता है।[42] पद्मपुराण में वर्णित केकया(केकैयी) की शिक्षा से तत्कालीन जैन समाज में कितनी प्रकार की विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी, इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।[43] महापुराण (पुष्पदन्त) के अन्तर्गत स्त्रियों को अक्षर, गणित, गद्य-काव्य, संस्कृत-प्राकृत -अपभ्रंश भाषाओं, छंद, सर्ग युक्त शास्त्र-कला, नाटक, आख्यायिका, कहानी, अनिबद्ध गाथादि, गीत-वाद्य-लक्षण आदि विषयों की शिक्षा देने का उल्लेख है।[44] राजशेखर कृत प्रबन्धकोश के अध्ययन से पता चलता है कि स्त्रियाँ नाना देश की भाषाओं में निष्णात थीं।[45] बाल विधवाएँ अपने गृह कार्य से अवकाश पाने पर अन्य विद्याओं के अध्ययन में दत्तचित्त रहतीं थीं।[46]

उत्तराध्ययन के 22वें अध्ययन में राजीमति के द्वारा दिया गया बोध संकलित है। वर्णित है कि महासती राजीमति ने रथनेमि मुनि को विकारवश पथभ्रष्ट होने से समुपदेशों द्वारा बचाया। राजीमति की बात से रथनेमि को अपनी भूल समझ में आ गई।[47] इसी प्रकार न्यायविशारद महोपाध्याय यशोविजय को अपनी विद्वत्ता पर अत्यधिक अभिमान होने पर एक श्राविका ने युक्ति द्वारा उनके गर्व का निवारण किया था।[48]

जैनशिक्षा की प्राप्ति किसी भी वर्ण का व्यक्ति कर सकता है, क्योंकि जैनशास्त्रों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि वर्णव्यवस्था जन्मगत नहीं, कर्मगत है। कहा भी है– कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है।[49] उत्तराध्ययन में हरिकेशकम्बल नामक चाण्डाल का उल्लेख आता है, जो जैनश्रमणों से शिक्षा पाकर ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत हुआ।[50]

इस प्रकार शिक्षा के सम्बन्ध में जैन वाङ्मय के विचार बड़े ही स्पष्ट हैं। जीवन-शोधन तथा लौकिक-कार्यों में जिस ज्ञान के द्वारा सफलता प्राप्त होती है, उसकी गणना शिक्षा में की गयी है। उसी कारण स्त्रियों के लिए उपयोगी विषयों को ही स्त्री-शिक्षा के अन्तर्गत समाविष्ट किया गया है। उन पर पुरुषोपयोगी शिक्षाओं का अनावश्यक बोझ शिक्षा के नाम पर नहीं रखा गया है। उपर्युक्त स्त्री-पुरुष के लिए विहित शिक्षा-भेद को देखने से स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य-भेद का और सभी वर्ण के लिए शिक्षा के अधिकार का भी स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है।

श्रुति तथा स्मृति परम्पराओं का शैक्षणिक महत्त्व

जैनशिक्षण-पद्धति उपदेशमूलक रही है। यह पद्धति प्राचीनकाल में मौखिक और स्मृति के आधार चलती थी, इसलिए उसे याद रखने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। बात को चुने हुए शब्दों में सूत्र रूप में कहा जाता था, जिससे शिष्य उसे ज्यों का त्यों स्मरण रख सकें। इसी कारण प्रारम्भिक साहित्य सूत्ररूप में उपलब्ध होता है। श्रुति और स्मृति परम्परा के आधार पर ही श्रुतज्ञान के संरक्षण-संवर्धन के लिए जैनपरम्परा में तीन प्रमुख वाचनाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[51] इन वाचनाओं में प्रथम वाचना भगवान् महावीरनिर्वाण (छठवीं शताब्दी ई.पू.) के 160 वर्ष बाद जैनश्रमण संघ को एकत्रित कर स्थूलभद्राचार्य के नेतृत्व में पाटलीपुत्र में हुई, जिसमें श्रमणसंघ को जितना स्मरण था उसे सिद्धान्त के रूप में एकत्रित कर लिया गया। इसके बाद दूसरी वाचना भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग 827 या 840 वर्ष बाद आगमसूत्रों को व्यवस्थित करने के लिए आर्यस्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में जैनश्रमण संघ बुलाया गया और स्मृति के आधार पर कालिकश्रुत के रूप में एकत्रित किया गया। तदनन्तर महावीर निर्वाण के लगभग 980 या 993 वर्ष बाद तीसरी वाचना वलभी में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमणसंघ बुलाकर माथुरी-वाचना के आधार पर आगमसूत्रों को संकलित कर लिया गया। वर्तमान में आगम-परम्परा एवं जैनसाहित्य प्राप्त हो रहा है, वह सभी श्रुति और स्मृति के आधार पर हुई वाचनाओं का ही परिणाम है, जो आज हम शिक्षारूप ज्ञान की समृद्धता जैनपरम्परा में देख रहे हैं।

जैन शिक्षण प्रक्रियाएँ तथा प्रविधियाँ

जैनाचार्यों द्वारा विभिन्न विषयों पर लिखे सहस्रों ग्रन्थ और उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारत में व्याप्त शिल्प और कला-निर्मितियाँ इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि जैन चिन्तकों ने ज्ञान व शिक्षा के हर पक्ष पर अपनी एक विशेष दृष्टि दी।

प्रारम्भ में सम्पूर्ण शिक्षा मौखिक और स्मृति के आधार पर चलती थी, अतः उसे याद रखने की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता था। बात को अत्यन्त संक्षेप में सारगर्भित कुछेक शब्दों के माध्यम से सूत्र रूप में कहा जाता था, जिससे उसे ज्यों का त्यों स्मरण रखा जा सके। इसीलिए प्रारम्भिक साहित्य सूत्र-रूप में मिलता है। साथ-साथ शिक्षणीय विषय को गेय रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा, जिससे उसे कंठस्थ किया जा सके। पश्चात् कथाओं को माध्यम बनाया गया, जिससे उस कथा-प्रसंग के साथ मूलतत्त्व को स्मरण रखा जा सके। वस्तुतः, जैन-परम्परा में शिक्षा आरम्भ में मुनि और आर्यिकाओं तक ही सीमित था। बाद

में, भिक्षुओं की चर्या में पैदल भ्रमण करना तथा समाज के हित में उसे धर्मोपदेश देना आवश्यक बना दिया गया।[52] इस प्रकार सर्वसामान्य में शिक्षा के प्रसार का कार्य साधु-साध्वियाँ ही करती थीं।

जैन शिक्षा-पद्धति में गुरु शिक्षण-विधि के प्रति अत्यधिक सावधान दृष्टिगोचर होते हैं। वे विद्यार्थी की योग्यता को ध्यान में रखकर ही शिक्षणविधि का प्रयोग करते हुए दिखाई पड़ते हैं। आचारांगसूत्र में भगवान महावीर का कथन है – ''जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं, वैसे ही शिष्यों को नित्यप्रति दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए।[53]'' परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ। विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछकर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था। वह बार-बार आवृति करके अपना पाठ कंठस्थ कर लेता था। पुनः पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था। प्रश्न पूछने के पहले वह आचार्य को प्रणाम करके ही पूछता था।[54]

वस्तुतः शिक्षण विधियों का प्रयोग जैन वाङ्मय में तत्त्वों का बोध या ज्ञान के लिए किया गया है। तत्त्वज्ञान का विवेचन जहाँ जिस रूप में किया गया है, वहाँ उसी के अनुरूप विधि का उपयोग किया गया है। सरल और कठिन विवेचन के लिए अलग-अलग विधियों का विवरण मिलता है। इसी प्रकार संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन के लिए भिन्न-भिन्न विधियों का आश्रय लिया गया है। तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, धवला, नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र आदि ग्रन्थों में शिक्षण-विधियों का विस्तार से वर्णन मिलता है। शिक्षा के सम्पूर्ण विषय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। जो तत्त्व जिस रूप में अवस्थित हैं, उनका ठीक उसी रूप में ज्ञान होने के लिए मूलरूप से दो विधियाँ बतायी गयीं हैं– 1.निसर्ग तथा 2. अधिगम।

1. निसर्ग विधि[55] – निसर्ग का अर्थ है– स्वभाव। अतः इस विधि के द्वारा स्वयंप्रज्ञ व्यक्ति तत्त्वों का सम्यक् बोध स्वतः प्राप्त करते जाते हैं। उनका जीवन ही उनकी प्रयोगशाला हुआ करती है।

2.अधिगम विधि[56]– अधिगम का अर्थ है– पदार्थ का ज्ञान। दूसरों के उपदेश से पदार्थों का जो ज्ञान होता है, वह अधिगमज कहलाता है। इस विधि के द्वारा प्रतिभावन तथा अल्पप्रतिभा युक्त सभी प्रकार के व्यक्ति तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। यही तत्त्वज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण बनता है।

निसर्ग विधि में प्रज्ञावान व्यक्ति की प्रज्ञा का स्फुरण स्वतः होता है, किन्तु अधिगम विधि में गुरु का होना अनिवार्य है। गुरु के उपदेश से जीवन और जगत के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना यही अधिगम विधि है। अधिगम विधि के निम्नलिखित भेद हैं–स्वाध्यायविधि (वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश), निक्षेपविधि, प्रमाणविधि, नयविधि, अनुयोगद्वारविधि, प्ररूपणाविधि आदि। इन कतिपय विधियों का विवेचन निम्न प्रकार द्रष्टव्य है–

● **स्वाध्यायविधि–** जैनपरम्परा में विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय विधि का प्रयोग किया जाता रहा है। इस विधि का अध्ययन-अध्यापन में विशिष्ट योगदान रहा है। 'स्वाध्याय' अर्थात् स्वयं का अध्ययन करना अथवा आत्मा का अध्ययन करना। स्वाध्याय की महत्ता एवं उपयोगिता इस कथन से सिद्ध हो जाती है कि 'श्रावक के प्रतिदिन किये जाने वाले आवश्यक कर्त्तव्यों में स्वाध्याय को अनिवार्य अंग का रूप में माना गया है[57] एवं परम तप[58] के रूप में उल्लिखित किया है।' क्योंकि स्वाध्याय के माध्यम से हेय-उपादेय की पहचान करके मोक्षमार्ग की प्राप्ति की जा सकती है। बृहत्कल्पभाष्य में कहा भी गया है कि स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप न अतीत में हुआ है, न वर्तमान में है और न भविष्य में कभी होगा।[59] नित्य स्वाध्याय करते रहने से सारे दुःखों से विमुक्ति मिलती है।[60] स्वाध्याय से प्रज्ञा में अतिशय

आता है, अध्यवसाय प्रशस्त होता है, परम संवेग आता है और अविचारों में विशुद्धि लाई जा सकती है। स्वाध्याय सब भावों का प्रकाशक कहा गया है।[61] इसके माध्यम से आत्मा अपने ज्ञान पर आवृत्त आवरणों को हटाता है।[62] इस प्रकार यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि जैनपरम्परा में अध्ययन-अध्यापन हेतु स्वाध्याय की अनिवार्यता रही है। इसके निम्नलिखित पाँच सोपान हैं–

1. वाचना– ग्रन्थ, अर्थ और दोनों का निर्दोष रीति से गुरु द्वारा पाठ देना और शिष्य द्वारा ग्रहण करना वाचना है।
2. पृच्छना– शंका को दूर करने के लिए या विशेष निर्णय करने के लिए पूछना पृच्छना है।
3. अनुप्रेक्षा– पढ़े हुए पाठ का मन से अभ्यास करना अर्थात् पुन: पुन: मन से विचार करते रहना अनुप्रेक्षा है।
4. आम्नाय– जो पाठ पढ़ा है, उसका शुद्धतापूर्वक पुन: पुन: उच्चारण करना आम्नाय है।
5. धर्मोपदेश– धर्मकथा करना धर्मोपदेश है।

उक्त पाँचों सोपानों में 'वाचना' सूत्रगत और अर्थगत प्रधानत: गुरु के द्वारा ही होती थी। 'पृच्छना' सूत्रगत और अर्थगत गुरु और शिष्य दोनों परस्पर करते थे। शेष तीन सोपानों को गुरु और शिष्य दोनों ही करते थे।

शिक्षा का प्रमुख ध्येय और उद्देश्य – व्यक्तित्व का समग्र विकास एवं चरम विकास 'मोक्ष' माना है। इसकी प्राप्ति का प्रमुख कारण स्वाध्याय ही है। क्योंकि सर्वप्रथम वाचना के द्वारा अर्थात् पढ़कर सिद्धान्त के सत्य को पाया जाता है, फिर उसके सम्बन्ध में रही हुई शंकाओं के लिए प्रश्न-प्रतिप्रश्न पूछकर ग्रहण किये ज्ञान को शंकारहित बनाया जाता है। कहा जा सकता है कि वर्तमान में 'वाचना' रीडिंग के समकक्ष है और 'पृच्छना' डिसकशनरूप है। अनुप्रेक्षा में ग्रहण किये गये ज्ञान को परिपुष्ट करने के लिए बार-बार उसकी आवृत्ति की जाती है, मनन किया जाता है और ज्ञान का परिग्रहण व रिकेपिच्यूलेशन किया जाता है।[63] तदनन्तर 'आम्नाय' के आधार से ज्ञान को शुद्धतापूर्वक उच्चारण किया जाता है। अंतत: धर्मोपदेश व धर्मकथा में ज्ञान रसरूप में परिणत हो जाता है।

● **निक्षेपविधि–** 'निक्षेप' शब्द-निरीक्षण की पद्धति का नाम है। लोक में या शास्त्र में जितना शब्द व्यवहार होता है, वह कहाँ किस अपेक्षा से किया जा रहा है, इसका ज्ञान निक्षेपविधि द्वारा किया जाता है। एक ही शब्द के विभिन्न प्रसंगों में भिन्न अर्थ हो सकते हैं। इन अर्थों का निर्धारण और ज्ञान निक्षेपविधि द्वारा किया जाता है। अनिश्चय की स्थिति से निकालकर निश्चय में पहुँचाना निक्षेप है। निक्षेप के चार भेद हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

1. नाम निक्षेप– व्युत्पत्ति की अपेक्षा किये बिना संकेत मात्र के लिए किसी व्यक्ति या वस्तु का नामकरण करना नामनिक्षेपविधि के अन्तर्गत आता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम हाथीसिंह रख दिया। नामनिक्षेपविधि ज्ञान प्राप्ति का प्रथम चरण है।

2. स्थापना निक्षेप– वास्तविक वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति, चित्र आदि बनाकर अथवा उसका आकार बिना बनाये ही किसी वस्तु में उसकी स्थापना करके उस मूल वस्तु का ज्ञान कराना स्थापनानिक्षेपविधि है। इसके दो भेद हैं- सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना।

(क) सद्भावस्थापना का अर्थ है– मूलवस्तु या व्यक्ति की ठीक-ठीक प्रतिकृति बनाना। यह प्रतिकृति काष्ठ, मृत्तिका, पाषाण, दाँत, सींग आदि की बनाई जा सकती है। इसप्रकार की प्रतिकृति बनाकर जो ज्ञान कराया जाता है, वह सद्भावस्थापनाविधि है।

(ख) असद्भावस्थापना में वस्तु की यथार्थ प्रतिकृति नहीं बनायी जाती है, अपितु किसी भी प्रकार की वस्तु में मूलवस्तु की स्थापना कर दी जाती है। जैसे, शतरंज के मोहरों में राजा, वजीर, प्यादे, हाथी आदि की स्थापना कर ली जाती है। जैनग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है।

3. द्रव्य निक्षेप– वर्तमान में पूर्व अर्थात् भूत एवं भविष्य की स्थिति को ध्यान में रखते हुए वस्तु का ज्ञान कराना द्रव्यनिक्षेपविधि है।

4. भाव निक्षेप– वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखकर वस्तुस्वरूप का ज्ञान कराना भावनिक्षेपविधि है।

● **अनुयोगद्वारविधि–** अनुयोग का अर्थ है– अध्ययन के अर्थ की प्रतिपादन पद्धति।[64] यह पद्धति ग्रहण-धारणा आदि से सम्पन्न शिष्यों के लिए है। अनुयोगविधि के तीन स्थान हैं– सूत्र और अर्थ के प्रतिपादन का क्रम, निर्युक्ति सहित सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन तथा निरवशेष प्रसंग-अनुप्रसंगों का प्रतिपादन। इस विधि के माध्यम से अध्यापन कार्य होता है। तत्त्वों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी अनुयोगद्वारविधि बतायी गयी है। इसके छः भेद हैं–

1. निर्देश– वस्तु के नाम का कथन करना।
2. स्वामित्व– वस्तु के स्वामी का कथन करना।
3. साधन– जिन साधनों से वस्तु बनी है, उसका कथन करना।
4. अधिकरण– वस्तु के आधार का कथन का कथन करना।
5. स्थिति– वस्तु के काल का कथन करना।
6. विधान– वस्तु के भेदों का कथन करना।

● **प्ररूपणाविधि–** इस विधि के भी आठ भेद हैं–

1. सत्–अस्तित्व का कथन करना।
2. संख्या– भेदों की गणना करके समझाना।
3. क्षेत्र– वर्तमान काल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना।
4. स्पर्शन– त्रिकाल विषयक निवास को ध्यान में रखकर समझाना।
5. काल– समयावधि को ध्यान में रखकर समझाना।
6. अन्तर– समय के अन्तर को ध्यान में रखकर समझाना।
7. भाव– भावों का कथन करके समझाना।
8. अल्पबहुत्व– एक-दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक का ज्ञान करके समझाना।

उक्त शिक्षण-प्रक्रियाओं और प्रविधियों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन श्रमण-संघ की जीवन पद्धति में ज्ञानमीमांसा सर्वोपरि रही है। मुनि एवं गृहस्थ धर्म का महत्त्वपूर्ण पक्ष स्वाध्याय रहा है। आत्म-चिन्तन में स्वाध्याय जितना उपयोगी है, उतना ही शास्त्र-लेखन और ग्रन्थ-संरक्षण में उसका महत्त्व है। जैन-परम्परा में प्राचीन समय से ही यह धारणा हो गयी थी कि शास्त्र सम्बन्धी कोई भी कार्य करने से पुण्यलाभ होता है। क्योंकि ग्रन्थभण्डारों में प्राप्त प्रत्येक ग्रन्थ एवं पाण्डुलिपि के अन्त में निम्न उक्ति प्रायः प्राप्त होती है–

एहु सत्थु जो सुणइ सुणावइ, एहु सत्थु जो लिहइ लिहावइ।
एहु सत्थु जो महि वित्थारइ, सो णरू लहु चिरमल अवहारइ।

एहु सत्थु जो लिहइ लिहावइ पढइ पढावइ कहइ कहावइ ।
जो णरु-णारि एहु मणु भावइ पुणह अहिउ पुण्णफलु पावइ॥[65]

उक्त विधियों के अतिरिक्त पाठविधि, श्रवणविधि, पदविधि, पदार्थविधि, उपक्रमविधि, व्याख्याविधि, शास्त्रार्थविधि, कथा-रूपक-तुलना-उदाहरण विधि, संगोष्ठी आदि विधियों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं।[66]

अध्यापक तथा छात्र सम्बन्ध

जैन परम्परा के ग्रन्थों से अवगत होता है कि छात्र और अध्यापक का सम्बन्ध बहुत ही मधुर और प्रेमपूर्ण होता था। अध्यापक-गुरु स्वभाव से ही शिष्यों के कल्याण का बराबर ख्याल रखते थे। यद्यपि उसके लिए कभी-कभी शिष्यों के प्रति कठोर व्यवहार करना पड़ता था। परन्तु उनका लक्ष्य बराबर शिष्य के हित में ही होता था, जैसे एक माता अपने रोते हुए भी बालक का मुँह फाड़कर उसे घी पिलाती है, उसी तरह गुरु शिष्य के हित में उसे अच्छे कार्य में बलात् प्रवृत्त करता है।[67]

अध्यापक बहुत ही आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। छात्र अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। अच्छे शिष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह गुरुजी के पढ़ाये हुए विषय को हमेशा ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है और प्रश्नोत्तर सुनता है, उसका अर्थ ग्रहण करता है, उस पर चिन्तन करता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करता है, उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है।[68] कोई सुयोग्य शिष्य अपने अध्यापक के प्रति कभी अशिष्टता का व्यवहार नहीं करता, कभी मिथ्याभाषण नहीं करता एवं सदा ही उनकी आज्ञा का पालन करता है। यदि यह ज्ञात हो जाये कि उसका गुरु कुपित हो गया है तो प्रिय वचनों से उसे प्रसन्न करता है, हाथ जोड़कर उन्हें शान्त करता है और अपने प्रमादपूर्ण आचरण की क्षमा मांगता हुआ भविष्य में वैसा न करने का वचन देता है। वह न कभी आचार्य के बराबर में, न उनके सामने और न उनके पीछे की तरफ बैठता है। कभी आसन या शय्या पर बैठकर वह प्रश्न नहीं पूछता, बल्कि यदि कुछ पूछना हो तो अपने आसन से उठकर, पास में आकर, हाथ जोड़कर पूछता है। यदि कभी आचार्य कठोर वचनों द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखना चाहे तो वह क्रोध न करके शान्तिपूर्वक व्यवहार करता है और सोचता है कि इससे उसका लाभ ही होने वाला है।

यहाँ यह विचारणीय तथ्य है कि जैन-आचार्य शिष्य को अध्ययन या ज्ञान प्रदान करके किसी भी प्रकार की अपेक्षा या आकांक्षा नहीं रखता था। न शिष्य उनके ऊपर अपनी अन्य सभी जिम्मेदारियाँ छोड़ सकता था और न आचार्य भी किसी प्रकार की शिष्य से सामग्री आदि एकत्रित करवाता था। यह पद्धति प्रचलित रही है कि शिष्य शिक्षा-समाप्ति पर दक्षिणा देता था, किन्तु जैनाचार्य इस प्रकार की कोई भी दक्षिणा नहीं लेते थे।

विद्या के अधिकारी

उत्तराध्ययन में विद्यार्थी की योग्यता के लिए उसका आचार्यकुल में रहना, उत्साही, विद्या-प्रेमी, मधुरभाषी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक माना गया है।[69] विद्यार्थी की योग्यताओं का विवेचन करते हुए उसमें इन आठ गुणों का रहना आवश्यक बताया गया है[70] – सहनशीलता, इन्द्रियनिग्रही, मधुर भाषी, शीलवान, रसों में अलोलुपता, अक्रोधी, शीलवृत्ति की दृढ़ता और सत्यभाषी। आदिपुराण के अनुसार विद्यार्थी में जिन मौलिक गुणों का होना अनिवार्य है, वे ये हैं[71]– जिज्ञासावृति, श्रद्धा (अध्ययन और अध्यापक दोनों के

प्रति आस्था), विनयशीलता, शुश्रूषा, श्रवण (पाठ-श्रवण के प्रति सतर्कता एवं जागरूकता), ग्रहण (गुरु द्वारा अध्यापन किए गए विषय को ग्रहण करने की अर्हता), धारणा (पठित विषय को सदैव स्मरण रक्षने की क्षमता), स्मृति (कालान्तर में नहीं भूलना), ऊह (तर्कणा-शक्ति), अपोह (पठित ज्ञान के आधार पर विचार-शक्ति का प्राबल्य एवं अकरणीय त्याग), निर्णीति (विचार करने की क्षमता), संयम, प्रमाद का अभाव, सहज प्रतिभा (विशेष क्षयोपशम शक्ति) और अध्यवसाय।

उत्तराध्ययन में विद्यार्थी की अयोग्यता के सम्बन्ध में वर्णित है कि अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग तथा आलस्य से युक्त विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है।[72] इसी प्रकार जिनसेनाचार्य ने भी कठोरपरिणामी, विषयी, सारतत्त्व के स्थान पर निःसार का ग्राहक, हिंसक वृत्ति, शब्द ज्ञान और अर्थज्ञान की न्यूनता, धूर्तता, कृतघ्नता, ग्रहण-शक्ति का अभाव, दुर्गुण ग्राहकता, उद्दण्डता, प्रतिभा की कमी, स्मरणशक्ति का अभाव, धारणशक्ति का अभाव तथा हठग्राहिता को अयोग्यता माना है।[73] षट्खंडागम मे भीं बुरे शिष्य के लक्षण संक्षेप में उपमा के माध्यम से वर्णित हैं। कहा गया है कि शैल धन, भग्न घट, अहि, चलनी, भैंसा, गैंडा, जोंक, शुक, माटी और मच्छर के समान शिष्यों को जो श्रुत का व्याख्यान करता है, वह मूढ़ रस-गारव के अधीन होकर विषयों की लोलुपता रूप विष के वश मूर्च्छित हो बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर भव-भवन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।[74] दसवेआलियं के नौवें अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में गुरु विद्यार्थियों को शिल्प में निपुण बनाने के लिए विविध प्रकार से उपालम्भ, ताड़ना और तर्जना देते थे। राजकुमार भी इससे अपवाद नहीं थे। सांकल से बाँधना, चाबुक आदि से पीटना और कठोर वाणी से भर्त्सना करना– ये विधियाँ अध्ययनकाल में अध्यापकवर्ग द्वारा विहित मानी जाती थीं।[75]

टीका तथा व्याख्या पद्धतियाँ

भारतीय-ज्ञानपरम्परा में जैनसाहित्य का विशिष्ट स्थान हैं। जैन-साहित्य प्रायः आगम-सूत्रों से सम्बद्ध है, साथ ही स्वतंत्र भी है।[76] आगमसूत्रों की दुरूहता और अर्थ-गाम्भीर्य को अवबोधपूर्ण बनाने के लिए एवं सरलतापूर्वक हृदयांगम किया जा सके, इसलिए विपुलरूप में व्याख्या-पद्धतियों के साहित्य का सृजन किया गया। क्योंकि बिना व्याख्या-साहित्य के सूत्रों को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।

जैन-आगमसूत्रों को सौविध्यपूर्ण बनाने के लिए वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन गेय, कथाप्रसंग, दृष्टान्त लोकभाषा आदि माध्यमों से किया जाता था। इन्हीं पद्धतियों का विभिन्न रूपों में विकास हुआ। जैसे सूत्र की व्याख्या की गयी हैं, जिन्हें जैन परम्परा में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वार्तिक आदि विविध व्याख्या–पद्धतियों के नाम से जाना गया है। इन व्याख्या-पद्धतियों में सबसे प्राचीन निर्युक्ति को प्राकृतभाषा में पद्यबद्ध, भाष्य को भी प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध, चूर्णि को संस्कृतमिश्रित प्राकृत बहुल गद्यबद्ध एवं टीका को संस्कृत भाषा में सृजित किया गया। इनके अतिरिक्त विवरण, विवृत्ति, संयुक्त-टीका, टबबार्थ, हिस्सा, बीजक, टिप्पण, यंत्र, कथा, संक्षेप, अन्वय, सम्बद्ध, प्रक्रिया और प्रवचन आदि पद्धतियाँ भी जैन ग्रन्थों के गूढ़ार्थ का प्रकाशन करने लिए उपलब्ध होती है। साथ ही क्षेत्रीय लोकभाषाओं में टब्बा, अवचूरि, बालावबोध, आदि व्याख्या पद्धतियाँ ढूंढारी, वघेली, राजस्थानी, गुजराती आदि लोकभाषाओं में उपलब्ध होती है।

जैनशिक्षण-विधि की एक विशेषता यह भी रही कि जैन आचार्यों ने आग्रह से रहित होकर सदा लोकभाषाओं को साहित्यिक स्वरूप देकर शिक्षा का माध्यम बनाया। उन्हीं भाषाओं को साहित्यिक स्वरूप

देकर उनमें ग्रन्थों की रचना की। इन भाषाओं को जनसामान्य की भाषा होने के कारण प्राकृत कहा गया तथा विभिन्न क्षेत्रों के अनुसार अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि नाम दिये गये। बाद में यही भाषाएँ अपभ्रंश हुई और राजस्थानी, गुजराती, मराठी, मगही, मैथिली, भोजपुरी आदि के रूप में विकसित हुई। उक्त प्रक्रियाओं के माध्यम से जैनसाधुओं ने शिक्षा का प्रसार निरन्तर किया और कर रहे हैं।

निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि जैनशिक्षा मूलत: मोक्षमूलक होने पर भी, उसके विषयों में जीव और जगत को केन्द्र बना कर सम्पूर्ण प्राणिमात्र तथा जगत के सम्पूर्ण विषयों को समाहित कर लिया गया है। जैन शिक्षापद्धति में नैतिकता पर विशेष बल दिया गया है। चरित्र की साधना को अधिक महत्त्व देने से कोई कुमार्गगामी नहीं बन सकता। नारी शिक्षा में जैन मनीषी अग्रणी रहे हैं। पुरुषों की तरह उन्हें भी अध्ययन का समान अधिकार दिया है। सभी तीर्थंकरों की प्रमुख आर्यिकाओं ने उनके उपदेश को फैलाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

संदर्भ ग्रंथ

1. Varansi was one of the chief centres of learning, prince Agadadatta of Sankhapura went there to study. He stayed in the house of his teacher and after completing his studies returned home. Savatthi is mentioned another centre of education padalliputta was still another seat of learning. Paitthan was a centre of learning in the south... J.C.Jain, Life in Ancient India as depicted in the Jain Canon and Commentaries, p. 229. Munishiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., Delhi, 1984 A.D.
2. जैनिज्म इन साउथ इंडिया, पी.बी. देशाई, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर, 1957 ई. एवं जैनिज्म इन नार्थ इंडिया, सी. जे. शाह, लांगमन्स ग्रीन कॉ, लंदन, मद्रास, 1932 ई. एवं जैन वाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व, डॉ. निशानन्द शर्मा, प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा 'शोधसंस्थान, वैशाली, 1988 ई., पृ. 30 पर उद्धृत.
3. Capitals, holy places, monasteries and temples were the centres of education in ancient India Kings and feudal chiefs were, as a rule, patrons of learning. Various capitals of prosperous kingdom which used to attract men of learning and thus become centres of education...J.C.Jain, Life in Ancient India as depicted in the Jain Canon and Commentaries, p. 229.
4. क्षत्रचूडामणि, वादीभसिंहसूरि, जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (प्रथम संस्करण), 1959 ई., तृतीय लम्ब, 45 श्लोक.
5. अभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
   सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वदुं जादि।।220।।
   समयसार (गाथा 216 से 220) आचार्य कुन्दकुन्ददेव, हिन्दी टीका-आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज). 1996 ई.
6. दसवेआलियं (वीओ भागो), 9.4.5., श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, 1964 ई.
7. णाणं भावो ततो णऽण्णो। निशीथ भाष्य, गाथा-75, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 2008 ई.

8. णाणं णरस्स सारो, सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।।
दंसणपाहुड़ (गाथा-31), अष्टपाहुड, आचार्य कुन्कुन्द, श्री श्रुतसागरसूरि कृत संस्कृतटीका सहित, हिन्दी अनु. डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतवर्षी अनेकान्त विद्वत् परिषद्, वाराणसी, 1995 ई.

9. मद्दवकारणं णाणं, तेणेव य जे मदं समुवहंति।
ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं।।
बृहत्कल्पभाष्य (गाथा-783), संघदासगणि, संपा., अनु. मुनि दुलहराज, जैन विश्वभारती लाडनूं, पहला संस्करण, 2007 ई.

10. सव्वजगुज्जोयकरं नाणं, व्यवहार भाष्य (गाथा-7.216) संपा., अनु. मुनि दुलहराज, जैन विश्वभारती लाडनूं, पहला संस्करण, 2004 ई.

11. णाणुज्जोवो जोवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिघाओ।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं।।
अर्हत्प्रवचन (गाथा 19.47), प्राकृत-सूक्तिकोश, मुनि चन्द्रप्रभसागर, जयश्री प्रकाशन, कलकत्ता, 1989 ई., पृ. 116 पर उद्धृत.

12. णाणं पयासयं/णाणं पयासगं।-गाथा 97 अथवा 103, आवश्यक-निर्युक्ति, भद्रवाहु स्वामी, संपा., अनु. डॉ. समणी कुसुम प्रज्ञा, जैन विश्वभारती लाडनूं, पहला संस्करण, 2006 ई.

13. णाणं अंकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स।-भगवती आराधना (गाथा-760), आचार्य शिवार्य, संपा., पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 2004 ई.

14. इह भविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदूभय वि नाणे।-भगवती सूत्र 1.1.

15. आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं।-गाथा 233, वसुनंदि-श्रावकाचार, आचार्य वसुनंदि, व्याख्याकार–आचार्य सुनील सागरजी महाराज, संपा. प्रो. भागचन्द्र जैन भास्कर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1999 ई. तथा भोयणदाणं सोक्खं ओसहदाणेण सत्थदाणं च।-गाथा 362, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, स्वामी कार्तिकेय, संपा. प्रो. ए. एन. उपाध्ये, आगास प्रकाशन, आगास, 1980 ई.

16. मूलाचार (गाथा-585) आचार्य वट्टकेर, संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, अनु. गणिनी आर्यिका ज्ञानमती माताजी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (दो भाग), 2011 ई.

17. दसवेआलियं (गाथा-4/10), जैन विश्वभारती, लाडनूं, पहला संस्करण.

18. रयणसार (गाथा-161), आचार्य कुन्दकुन्द, अनु. गणिनी स्याद्वादमती माताजी, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, 1997 ई.

19. मूलचार (गाथा 368) आचार्य वट्टकेर, संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री अनु. गणिनी आर्यिका ज्ञानमति माताजी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (दो भाग), 2011 ई.

20. ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः स चक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभिः।।
पद्मनंदिपंचविंशति (6 उपासक संस्कार, श्लोक-20), मुनि पद्मनंदि, संपा, अनु. पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 2000 ई.

21. ज्ञान उदै जिनके घट अन्तर ज्योति जगी, मति होति न मैली।

भव्यप्रमोद, कविवर, पं. मक्खनलाल जैन, भारतवर्षीय दिग. जैन साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार समिति, जयपुर, 2004 ई., पृ. 193.

22. ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण।
छहढाला, चौथी ढाल, पद्य-4, प्रकाशन–श्री दिग. जैन युवक संघ, इन्दौर, 2001 ई.

23. ज्ञान विना शिवपन्थ न सूझै।

-भव्यप्रमोद, कविवर, पं. मक्खनलाल जैन, पृ. 163.

24. मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम्।
तत्त्वार्थसूत्र (प्रथम अध्याय, सूत्र 9), आचार्य उमास्वामी, व्याख्या प्रमुख-उपाध्याय श्री श्रुतसागर जी महाराज, संपा. डॉ. सुदीप कुमार जैन, श्री श्रुति प्रकाशन, 2002 ई.

25. समवायांग, 72.7, ज्ञाताधर्मकथा, प्रथम श्रुतस्कन्ध, 1.85, आगमसुत्ताणि, जैन विश्वभारती, लाडनूं, 2006 ई.

26. अम्हइं जड उवायअवियाणा, दीहरभुक्खायासें रीणा।
तं णिसुणेप्पिणु महीवइ घोसइ, सुरतरुवरविणासि सुच्छाया, कम्मभूमिरुहसंजाया।। द्वितीय संधि, कडवक-14 एवं 12 से 14 पंक्ति –महापुराणु (पुष्पदन्त)–संपा.डॉ. पी. एल. वैद्य, अनु. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2001 ई.

27. करिसणकरणु धरणु मयणिवहहं, हरिकरिमेसमहिसविसकरहहं।
पडु घडु भोयणु भायणु रंजणु, घरू पयणविहि पीढु मणरंजणु।
सेज्ज सरीतताणु जलधारणु, हारु दोरु केऊरु सकंकणु।
असि मसि सिप्पु वि जं जिह जेहउ, अक्खिउ लोयहु तं तिह तेहउ।।

–महापुराणु (पुष्पदन्त), पांचवीं संधि, कडवक 16 एवं 10 से 13 पंक्ति.

28. महापुराणु (पुष्पदन्त), भाग-1, पांचवी संधि, कडवक 6 से कडवक 12 तक.

29. जोइससउणसमूहणिमित्तइं, णरणारीलक्खणइं विचित्तइं।
महापुराण (पुष्पदन्त), अट्ठाईस संधि, कडवक 4 एवं 8 वीं पंक्ति.

30. णिवविज्जरिसिविज्जागामिणि, तहु होसइ इहपरभवि गोमिणि।
महापुराणु (पुष्पदन्त), अट्ठाईस संधि, कडवक 6 एवं 9 वीं पंक्ति.

31. महापुराणु (पुष्पदन्त), अड़तालीस संधि, कडवक 101 से 103.

32. जम्मणतो सत्तअट्ठ बरिसो (निशीथ), विशेषचूर्णि, भाग-3, गाथा 3511, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1958 ई.

33. क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता। यत्रापनीतकेशस्य मौंजी सव्रतबन्धना।
कृतार्हतपूजनस्यास्य मौंजीबन्धे जिनालये। गुरुसाक्षिविधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम्।।
शिखी सितांशुक : सान्तर्वासो निर्वेषविक्रियः। व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ।
चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदस्य वै। वृतिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात्।।
सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां नियोग इति केवलम्। तदग्रं देवसात्कृत्य ततोऽन्नं योग्यमाहरेत्।।

आदिपुराण (38.104-108), आचार्य जिनसेन, संपा. एवं अनु. डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2001 ई. 38. 104-108.

34. एवं प्रायेण लिंगेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम्।
स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपबृंहितम्।।
दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चांजनम्।
न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति।।..।।
आदिपुराण (38.104-108), आचार्य जिनसेन, 38.114-117.

35. महापुराण (पुष्पदन्त), भाग-2, संधि 38 कडवक 118-116.

36. महापुराण (पुष्पदन्त), भाग-2, संधि 38, कडवक 121-126.

37. न्यायोपात्ताधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्नयन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानलायो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी, शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।।
सागारधर्मामृत (श्लोक 1.11), पं. आशाधर, संपा. ब्र. डॉ. प्रमिला जैन, अनु. गणिनी आर्यिका सुपार्श्वमति माताजी, चूडीवाल कृषिफार्म हाउस, जयपुर, 2007 ई.

38. महापुराण (पुष्पदन्त), भाग-2, संधि 28 कडवक 6 पंक्ति 9.

39. कतिपय श्वेताम्बर विदुषी कवयित्रियां, अगरचन्द नाहटा, पृ. 573.

40. समवादीधरद् ब्राह्मी मेधाविन्यतिसुन्दरी। सुन्दरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत्।।
न विना वाङ्मयात् किंचिदस्ति शास्त्र कलापि वा। ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत्।।...
वाग्देवतावताराय कन्ये पात्रत्वमीयतुः।।
आदिपुराण, 16.108-117.

41. शान्तिनाथचरित (प्रथम प्रस्ताव 21-25), श्री अजित प्रभाचार्य, संपा. मुनि इन्दविजय, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1909 ई.

42. शान्तिनाथचरित (9 प्रस्ताव श्लोक 71), श्री अजित प्रभाचार्य, संपा. मुनि इन्दविजय, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1909 ई.

43. पद्मपुराण (भाग-1, 20.5-83), रविषेणाचार्य, संपा. एवं अनु. डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2000 ई.

44. महापुराण (पुष्पदन्त), भाग-1, पांचवीं संधि, कडवक 9, पंक्ति 10-13.

45. प्रबन्ध कोश, राजशेखर, भाग-1, पृ.92, संपा. जिनविजय, संधी ग्रंथमाला, बम्बई, 1955 ई.

46. वही, पृ.100.

47. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन-22, गाथा 48, संपा. आचार्य महाप्रज्ञ, जैनविश्वभारती, लाडनूं.

48. ब्र. पं. चन्दा आई अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. 575.

49. कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।।
–उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन–25 गाथा 31 जैन विश्वभारती, लाडनूं, 2006 ई.

50. सोवागकुलसंभूओ, गुणत्तरो मुणी।
हरिएसबलो नाम, आसि भिक्खू जिइंदियो।।
–उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन–12 गाथा, 31 जैनविश्वभारती, लाडनूं, 2006 ई.

51. प्राकृत साहित्य का इतिहास, जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2014 ई., पृ. 51.

52. मूलाचार (मुनिचर्या प्रकरण), माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई.

53. श्री आचारांगसूत्रम्, 1.6.3, श्री अमोल जैन ज्ञानालय, धुलिया, नवम्बर, 1960 ई.

54. उत्तराध्ययन, 29.18, 1.13.

55. निसर्गः स्वभावः इत्यर्थः। यद्बाह्योपदेशादृते प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकम्।
सर्वार्थसिद्धि (1.3.12.3), आचार्य पूज्यपाद, संपा. पं. फूलचंद्र सिद्धांत 'शास्त्री', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008 ई.

56. अधिगमोऽर्थावबोधः। यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं तदुत्तरम्।
सर्वार्थसिद्धि (1.3.12).

57. देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानाम् षट्-कर्माणि दिने दिने।।
पद्मनंदिपंचविंशतिका (6 उपासक संस्कार, श्लोक 7), मुनि पद्मनंदि, संपा. अनु. पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर, 2000 ई.

58. प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्।।
तत्त्वार्थसूत्र (नवम अध्याय, सूत्र 20), आचार्य उमास्वामी, व्याख्या प्रमुख–उपाध्याय श्री श्रुतसागर जी महाराज, संपा. डॉ. सुदीप कुमार जैन , श्री श्रुति प्रकाशन, 2002 ई.

59. नवि अत्थि न विअ होही, सज्झायसमं तवो कम्मं।
बृहत्कल्पभाष्य, सूत्र 1169.

60. सज्झाए वा निउत्तेणु, सव्वदुक्खविमोक्खणे।
–उत्तराध्ययनसूत्र, 26।10.

61. सज्झायं च तओ कुज्जा, सव्वभावविभावणं।
–उत्तराध्ययनसूत्र, 29।18.

62. सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।
–उत्तराध्ययनसूत्र, 26।37.

63. जैनशिक्षा : स्वरूप और पद्धति, प्रो. नरेन्द्र भानावत, खण्ड-4, पृ. 61.

64. अनुयोगद्वारहारिभद्रीयावृत्ति, पृष्ठ 26(99), जैन आगम ग्रंथों में पंचमतवाद, डॉ. वन्दना मेहता, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, 2012 ई., पृ. 29 पर उद्धृत.

65. वड्ढमाणकहा, अपभ्रंश कवि नरसेन एवं वरंगचरिउ, पं. तेजपाल, संपा. डॉ. सुमत कुमार जैन, श्री कुन्दकुन्दकहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई, 2011 ई.

66. विस्तृत जानकारी के लिए देखें जैन वाङ्मय में शिक्षा के तत्त्व, प्र., प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, बिहार, 1988 ई.

67. भगवती आराधना, मूल गाथा-481.

68. आवश्यक निर्युक्ति, 22 एवं जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. 287.

69. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई।।

– उत्तराध्ययन, 11.14.

70. उत्तराध्ययनसूत्र (लाहौर संस्करण), 11.4-5, पृ. 438-39.

71. आदिपुराण (भाग-1) 1.68, 1.140-48 एवं महापुराण (भाग-2) 38.109-118.

72. अह पंचहिं ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भइ।
थम्मा कोहा पमाएणं रोगेणा लस्सएण य।।

–उत्तराध्ययनसूत्र (लाहौर संस्करण, 1939 ई.), 11.3.

73. आदिपुराण (भाग-1)–1.138-141.

74. षट्खंडागम-धवला टीका समन्वितः, 62-63, प्र. जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, 1939 ई.

75. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, आचार्य तुलसी, पृ. 217, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, वि.सं. 2023.

76. प्राकृत साहित्य का इतिहास, जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2014 ई.

RAJ HIN 28340/75

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

PUBLICATION LIST

SL	Publication	Writer/Editor	Price
BOOKS			
01.	जैन-प्रबोधन : जैन दृष्टि	प्रो. बच्छराज दूगड़	140
02.	पूज्यपादेन आचार्यमहाप्रज्ञेन प्रणीता जैनन्यायपंचाशती (न्यायप्रकाशिकाव्याख्यायुता)	पं. विश्वनाथ मिश्र	100
03.	प्राकृत भाषा प्रबोधिनी	डॉ. समणी संगीत प्रज्ञा	250
04.	जैनधर्मदर्शन का ऐतिहासिक विकासक्रम	डॉ. सागरमल जैन	700
05.	आचार्य महाप्रज्ञ का अवदान	प्रो. जिनेन्द्र जैन, प्रो. बी.एल. जैन	450
06.	आचार्य महाप्रज्ञ का हिन्दी साहित्य का अवदान	प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी	300
07.	जैन आगमों का सामान्य ज्ञान (प्रथम एवं द्वितीय भाग)	डॉ. महावीर राज गेलड़ा	250
08.	अपभ्रंश साहित्य का इतिहास	प्रो. प्रेम सुमन जैन	950
09.	Bhagavati Aaradhana	Dr. Dalpat Singh Baya	1995
10.	Teaching English : Trends and Chaalenges	Dr. Sanjay Goyal	300
11.	Anekanta : Philosophy and Practice	Prof. Anil Dhar	250
12.	Studies in Jaina Agamas	Prof. Dayanand Bhargav	550
13.	Various Dimensions of Social Culture	Prof. Damodar Shastri, Dr. Bijendra Pradhan, Dr. Hemlata Joshi	350
14.	Jain View of Reality: A Hermeneutic Interpretation	Dr. Samani Rohini Prajna	450
15.	Corporate Sector and Value Orientation	Dr. Jugal Kishor Dadhich	170
16.	Jain Philosophy : A Scientific Approach to Reality	Ed. Samani Chaitanya Prajna, Narayan Lal Kachhara, Narendra Bhandari, Kaushala Prasad Mishra	150
ENCYCLOPEDIA			
01.	जैन पारिभाषिक शब्दकोश	मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभा	995
02.	जैन न्याय पारिभाषिक कोश	प्रो. दामोदर शास्त्री	500
03.	दृष्टांत कोश	प्रो. दामोदर शास्त्री	375
04.	Jain Paribhasika Sabdakosa	Mukhya Niyojika Sadhvi Vishrutavibha	1125
05.	Bibliography of Jaina Literature, Vol. I	Dr. Samani Aagam Pragya, Dr. Samani Rohit Pragya, Dr. Vandana Mehata	1200
06.	Bibliography of Jaina Literature, Vol. II	Dr. Samani Aagam Pragya, Dr. Samani Rohit Pragya, Dr. Vandana Mehata	1200
MONOGRAPH SERIES			
01.	Introduction to Jainism	Mukhya Niyojika Sadhvi Vishrut Vibha	125
02.	Jain Doctrine of Reality	Dr. Samani Shreyas Prajna, Dr. Samani Amal Prajna	125
03.	Jain Doctrine of Knowledge	Dr. Sadhvi Chaitanya Prabha	125
04.	Jain Doctrine of Karma	Prof. Samani Riju Prajna, Sarika Surana	125
05.	Jain Doctrine of Anekant	Dr. Samani Shashi Prajna	125
06.	Jain Doctrine of Naya	Prof. Anekant Kuamr Jain	125
07.	Jain Doctrine of Nine Tattvas	Pror. Pradyuman Singh Shah	125
08.	Jain Doctrine of Six Essentials	Dr. Arihant Kumar Jain	125
09.	Jain Doctrine of Aparigraha	Prof. Sushma Singhvi, Dr. Rudi Jansma	125
10.	Jain Doctrine of Nyaya	Prof. Samani Riju Prajna, Dr. Samani Shreyas Prajna	125
11.	Jain Doctrine of Dreams	Dr. Sadhvi Rajul Prabha	125
12.	Jainism : A Living Realism	Prof. S.R. Vyas	125
13.	An Introduction to Preksha Meditation	Mukhya Niyojika Sadhvi Vishrut Vibha	125

सम्पादक; प्रकाशक - जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं; मुद्रक - तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर (राजस्थान)